



लोक संगीत का बदलता स्वरूप

चेतन सिंह राजपूत (शोधार्थी)

डॉ.अपर्णा अग्निहोत्री (शोध निर्देशक)

संगीत विभाग (संशोधन केंद्र)

वसंतराव नाईक शासकीय कला व समाज विज्ञान संस्थान, नागपुर

राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज नागपुर विश्वविद्यालय

नागपुर, महाराष्ट्र, भारत

शोध संक्षेप

लोक में किसी भी देश की आत्मा का वास होता है। यहाँ लोक का आशय ऐसे जनसमुदाय से है जो अपनी आदिम संस्कृति, रीति-रिवाज, परम्परायें, रुढ़ियाँ, ज्ञान, विश्वास, आचार, कलाएं, गीत, संगीत और नृत्य को अपनाते हुए दैनिक जीवन व्यतीत करता है। अपनी जीवन की रचना प्रकृति की ताल पर करता हुआ आनंदपूर्ण अवस्था में रहता है। वेदों से चली आती हुई यह परम्परा लोक में आज भी जीवंत है प्रस्तुत शोध पत्र में वैदिककालीन लोक संगीत के बदलते स्वरूप पर विचार किया गया है।

भूमिका

गीतं वाद्यं च नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते अर्थात् भारतीय मनीषियों के अनुसार संगीत में तीन कलाओं का समन्वय पाया जाता है। ये तीनों परस्पर एक दूसरे से स्वतंत्र होते हुए भी एक दूसरे के पूरक हैं। इनमें से गायन कला को उत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। व्याकरणिक दृष्टि से अवलोकन करें तो संगीत शब्द का अर्थ गीत में सम उपसर्ग लगाने के अर्थ में है। सम का अर्थ सुचारु रूप अथवा व्यवस्थित रूप से तथा गीत शब्द का अर्थ गायन करने के सन्दर्भ में है। "सम्यक प्रकारेण यद्गीयते तत्संगीतः" अर्थात् जिसे सही ढंग से गाया जाये संगीत कहलाता है। साधारणतः संगीत का प्रमुख गुण मनोरंजन करने की प्रकृति है। यह संगीत शब्द व्यावहारिक रूप से सर्वप्रथम संगीत रत्नाकर में आया। उससे पहले वैदिक काल में संगीत के लिए तृच संज्ञा

थी, जिसका वर्णन श्रीधर परान्जपे जी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संगीत का इतिहास' में किया है। लोक संगीत का स्वरूप

आज के परिप्रेक्ष्य में लोक संगीत की स्थिति को समझने से पहले प्राचीन वैदिक पृष्ठभूमि को समझना अतिआवश्यक है। यहाँ कुछ विचारणीय प्रश्न हैं कि लोक क्या है ? और लोक का संगीत क्या है ? और किस प्रकार से उसका उद्भव हुआ ? वैसे लोक शब्द की परिभाषा और उसका अर्थ अनेक संगीतज्ञों और हिंदी के साहित्यकारों ने अपने-अपने मतानुसार प्रस्तुत की है। किन्तु साधारण शब्दों में यदि लोक शब्द का अर्थ समझें तो लोक मानव समाज का वह विशिष्ट समुदाय, वर्ग है जिसमें कुलीनता और पांडित्य की चेतना हो, ऐसा विशेष मानव समाज समुदाय लोक कहलाता है। यह लोक शब्द संस्कृत के लोकदर्शन धातुमें धृ प्रत्यय लगाने से



बना जिसका अर्थ देखना होता है। हिंदी में लोक का अर्थ संसार, प्रदेश, जन, समुदाय आदि अनेक अर्थ होते हैं। ऋग्वेद में लोक शब्द का प्रयोग जीवन अथवा स्थान दोनों सन्दर्भों में प्रयुक्त हुआ है। यथा -

नाभ्या आसीदतिरक्षं शीष्णो धौ

समवर्तत पद्भ्याः भूमिर्दिश

श्रोत्रत्त था लोको अकल्पयन

लोक के संगीत की बात करें तो वेदों में सामवेद को विशिष्ट वेद माना गया है। क्योंकि इसमें संगीत की प्रचुर सामग्री पायी जाती है। वैदिक काल में जो गान होता था वह मात्र 3 से 4 स्वरों का ही गान लेकर होता था और ऋचाएं 3 से 4 स्वरों में ही गयी जाती थीं। तदनंतर समयानुसार सामगान 5 और बहुत कम 6 या 7 स्वरों में प्रयुक्त की जाती थीं। और अगर देखें तो लोक संगीत वैदिक काल से आज तक 3 से 4 स्वरों में ही गायन देखने और सुनने को मिलता है। वैदिक काल में जब यज्ञों की ऋचाओं का गान प्रथम स्वर का आश्रय लेकर होता था तो उसे आर्षिक और दो स्वरों की ऋचाओं को लेकर गायी जाती थी उसे गाथिक कहा जाता था। तीन स्वरों में जो साम गान होता था उसे सामिक और चार स्वरों के गान को स्वरांतर कहा गया। इनमें से दो स्वरों में जो गान हुआ वह गाथा कहलाया। गाथा के अंतर्गत देवताओं, राजाओं, महाराजाओं की प्रशंसा की जाती थी और यही गाथा धीरे-धीरे आगे रूपांतरित होती चली गयी और जन रुचि के अनुसार अपना स्वरूप बदलती गयी। उस समय सामगान यज्ञों में होता था, जो अपनी विशुद्ध अवस्था में था। उसकी कई शाखाएं भी बनीं जैसे समेतर शाखा। जिसे लोकेटर शाखा भी कहा गया। तदनंतर आगे गाथाओं के अतिरिक्त प्रशस्तियाँ होती थीं। जिन्हें

ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग गाता था और ये प्रशस्तियाँ लौकिक स्वरों में गायी जाती थीं। आचार्य भरत मुनि ने लोकानुरुची अनुसार लौकिक स्वरों में निबद्ध गान्धर्व संगीत का उल्लेख किया है अर्थात् उस समय गान्धर्व संगीत देशी संगीत ही था। साधारणतः साम गान उस समय का विशुद्ध संगीत था और गान्धर्व देशी तथा गान उस समय का लोक संगीत था। उसी में गान आगे मार्गी यानि की निबद्ध और देशी यानि अनिबद्ध में विभक्त हुआ। कालांतर में आगे देशी संगीत (शास्त्रीय और लोक संगीत) दो रूपों में विकसित हुआ। इसी प्रकार धीरे-धीरे लोक संगीत का उद्भव हुआ। देखा जाये तो यह लोक संगीत ही शास्त्रीय संगीत का मूल आधार बना। प्राचीन काल में शास्त्रीय शब्द प्रचार में नहीं आया था। लोक संगीत ही प्रचार में था। तेरहवीं शताब्दी के पंडित शारंगदेव जी ने संगीत रत्नाकर ग्रन्थ में लोक संगीत को सुपरिभाषित करते हुए कहा है कि ऐसा संगीत जो भिन्न-भिन्न देशों, प्रान्तों, और राज्यों के लोगों की रुचि के अनुसार पुष्पित-पल्लवित होता हो और शास्त्रीय नियमों से मुक्त सामाजिक समाजकों का मनोरंजन करता हो। वह देशी संगीत कहलाता है। उक्त कथानानुसार स्पष्ट है कि यह लोक संगीत जन समुदाय की प्रेरणा का स्रोत है। इसी क्रम में गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर ने भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि संस्कृति को सुखद सन्देश देने वाला लोक संगीत ही है। मूल रूप से देखा जाये तो मानव के अन्तःमन में उठने वाले भावों की भावाभिव्यक्ति जिन गीतों के माध्यम से होती है, वे गीत लोक के गीत कहलाते हैं। उनका न कोई विशेष रचनाकार होता है, न कोई विशेष स्वर, ताल। कुछ भी आधार नहीं होता। वे तो स्वतः ही रचित होते हैं और स्वतः ही स्वरबद्ध होते हैं और



तालबद्ध हो जाते हैं। विद्वतजनों का कहना है कि मानव समाज की व्युत्पत्ति के साथ-साथ लोक संगीत का भी आविर्भाव हुआ। प्रत्येक समाज की संस्कृति का दर्शन वहां के लोक संगीत में देखने को मिलता है। अर्थात् यँ कहें कि वहां के गीत, वाद्य, नृत्य में वहां की माटी की सुगंध आती है। वहां के गीतों के गायन मात्र से ही उस समाज की संस्कृति का और वहां की परम्पराओं का स्वतः ही दर्शन होने लगता है। इसीलिए लोक को लोक के संगीत से अलग नहीं किया जा सकता। क्योंकि लोकगीत तो लोक की आत्मा है। ये लोक गीत मानव की भाव अभिव्यक्ति का मूल साधन है।

लोक संगीत का बदलता स्वरूप

आज के परिप्रेक्ष्य में हमारे लोकसंगीत की कुछ अलग ही प्रकृति देखने को मिलती है। आज जैसे-जैसे समय बदल रहा है, वैसे-वैसे लोगों का लोक संगीत के प्रति रुझान भी परिवर्तित हो रहा है। जिन गीतों के माध्यम से ग्रामीण एवं शहरी की संस्कृति देखने को मिलती थी और उन गीतों के सुनने मात्र से ही विशेष आनंद की अनुभूति होती थी। वह कहीं न कहीं फिल्मी संगीत के प्रभुत्व के कारण धूमिल पड़ती जा रही है। संस्कार गीतों में जहाँ गाँवों में सोहर, बन्ना, गारी, लड्डू गीत आदि अनेक मांगलिक अवसरों पर महिलायें स्वतः ही मिल-जुलकर एक मधुर तर्ज बनाकर गीत गाती थीं। आज उन गीतों के स्थान पर फिल्मी धुनों पर बने लोक गीतों ने ले लिया है। ऐसे-ऐसे गीत जिनके शब्द ही स्पष्ट नहीं और संगीत उसमें अधिक पाया जाता है, जो कर्णप्रिय लगने की बजाय अकर्णप्रिय बन जाता है। सबसे मुख्य बात तो यह है कि आज का युवा वर्ग ऐसे ही संगीत की ओर अधिक रुझान ले रहा है। शब्द और अर्थहीन अर्थहीन गीत सुनकर

मानसिक चेतना को आहत करता हुआ अपराध की अग्रसर हो जाता है। ऐसा संगीत मानव मन मस्तिष्क और आत्मा को सकारात्मक ऊर्जा की ओर ले जाने की बजाय नकारात्मक ऊर्जा की ओर ले जाते हैं। इसके विपरीत फिल्मी जगत में भक्तिपरक, धार्मिक गीतों की रचना भी की जाती है, लेकिन उनकी संख्या कम है।

निष्कर्ष

आज के लोकसंगीत की अपेक्षा हमारा प्राचीन लोकसंगीत अधिक शुद्ध अवस्था में था। गीतों की शब्दावली अर्थयुक्त होती थी और सभी उसे चाव से सुनते और उसका अनुसरण करते थे। उन गीतों में एक विशेष रसपान होता था, किन्तु अब जो गीत बने हैं, उनमें न तो रस दिखाई पड़ता है न भाव दिखाई देता है। हमें अपनी संस्कृति एवं सांस्कृतिक परम्पराओं, पौराणिक धरोहरों को जीवंत बनाये रखने के लिए लोकगीत और संगीत में शुद्धि करना आवश्यक है, जिससे हमारा लोकसंगीत बचा रहे और युवा वर्ग पथभ्रष्ट होने के बजाय अपने संगीत के प्रति रुचि रखे और जागरूक होता रहे।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- 1 संगीत रत्नावली, डॉ. अशोक कुमार यमन
- 2 भारतीय संगीत का इतिहास, श्रीधर परान्जपे
- 3 व्याख्यान, डॉ. पंकज माला शर्मा
- 4 भारतीय लोक साहित्य, डॉ. श्याम परमार